प्रथम संस्करण १००० सं० १९८८

द्वितीय संस्करण १२०० सं० १९८८

तृतीय संस्करण २००० सं० १९९१

चतुर्थ संस्करण १८०० सं० १९९५

पञ्चम संस्करण २००० सं० २०००

गीता-निबन्धावली

श्रीहरिः

विषय-सूची



॥ श्रीहरि ॥

गीता-निबन्धावली

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

वास्तवमें गीताके तात्त्विक विषयोंपर भगवान्‌का क्या आशय है, इसका प्रतिपादन करना कोई साधारण बात नहीं है। मेरी तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े विद्वान् भी इन विषयोंमें मोहित हो जाते हैं। इस अवस्थामें भगवान्‌का आशय अमुक ही है यों निश्चितरूपसे कहना एक प्रकारसे अपनी बुद्धिका परिचय देना है। तथापि लोग अपने-अपने भावोंके अनुसार अनुमान लगाया ही करते हैं, इसी न्यायसे मैं भी अपना अनुमान आपलोगोंकी सेवामें उपस्थित कर देता हूँ। वस्तुतः अपनी दिव्य वाणीका यथार्थ रहस्य तो भगवान् ही जानते हैं।

(१)

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका स्वरूप

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा, सर्वथा, सर्वत्र समभाव है। जहाँ-जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहाँ समताका ही उल्लेख पाया जाता है। गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है। ऐसे जीवन्मुक्तमें रागद्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है, मान अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु मित्र, निन्दा स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा घटना उसके ब्रह्मभूत हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती। किसी भी कालमें किसीके साथ किसी

प्रकारसे भी उसकी साम्यस्थितिमें परिवर्तन नहीं होता। निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती। दोनोंमें समान वृत्ति रहती है। मूढ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। पर जीवन्मुक्तका अन्त करण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है? वह तो सबको एक परमात्माका ही स्वरूप समझता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(१३।३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक् पृथक् भावोंको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा

अन्य कुछ रह ही नहीं जाता । लोकसंग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी समबुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । इसीसे भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं ।' इस श्लोकमें व्यवहारका भेद स्पष्ट है । यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतान कर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है । कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता । मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, इन तीनों पशुओंमें भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है । हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता । गौकी जगह कुतिया नहीं रक्खी जाती । जो लोग इस श्लोकसे

व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन्मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है, जिनमें व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित सम ब्रह्मको देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेदबुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (३। २५-२६) क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, अन्य लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई

या विधिनिषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत् मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(५। २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख दुःख, अहंता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टि शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके फटनेका

अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खानपान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है। फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनका सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है? वास्तवमें समदर्शन

या विधिनिषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुमुक्षु पुरुषोंको असत् मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(५। २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख दुःख, अहंता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टि शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके कटनेका

अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानी-का आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खानपान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है। फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनका सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिको शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है? वास्तवमें समदर्शन

ही यथार्थ ज्ञान है । समदर्शनका कोई महत्त्व नहीं यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो आगमें तथा पशुओंमें प्राय पायी जाती है ।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं शत्रु मित्र, मान अपमान, जय पराजय, [illegible] आदि समदर्शन करना ही यथार्थ समता है ।

यह समता ही एकता है । यही परमेश्वरका है । इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति निराली इसमें गाढ़ स्थिति होती है, उसको [illegible] सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष शोक और राग द्वेषका विकार नहीं होता । इस समबुद्धिके कारण यह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता । इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । किसी भी गुणके कार्यसे यह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे [illegible] गुणातीत है । एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है इसीसे वह ज्ञानी है । परमात्मा वासुदेवके सिवा क[illegible] कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है । उसे [illegible] कर्म कभी बाँध नहीं सकते, इसीसे वह जीवन्मुक्त है इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव [illegible]

वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य
रण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी उसके कार्योंमें
नी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी, वह
ानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकी-
से सदा सर्वदा स्थित रहता है। उसका वह आनन्द
य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है। लौकिक
द्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

(२)

जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(१३। २२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर
(त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल
साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे
अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे
भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध
सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार
ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त

श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परमपुरुष परमात्मा भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन संहारके समय ईश्वर और निर्विकार अवस्थामें ब्रह्म जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका, उप॰ अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरका एवं परम॰ शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परमपुरुषके विशेषण सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि *'किं तद्ब्रह्म'* 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा *'अक्षरं ब्रह्म परमम्'* 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' *'किमध्यात्मम्'* 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें *'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'* 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और *'कः अधियज्ञः'* 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें *'अधियज्ञोऽहमेवात्र'* 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमाया-से संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९। ११) भगवान् श्रीकृष्ण (ईश्वर) और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ

अंश है, परन्तु यह किस प्रकारका अंश है, यह कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अंदर नाना प्रकारके दृश्यों, पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता और उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है। स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे, इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है, तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त, ज्ञानस्वरूप परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण और युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महापुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर इसे प्राप्त करो।' भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४। ३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं। ऐसे बहुत से स्थल हैं जहाँ भेदमूलक शब्द पाये जाते हैं। भिन्न भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न-भिन्न वर्णन है। शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है। जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३। १२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे

अतीत है।' 'अक्षरं ब्रह्म परमम्, अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियाँ भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि कहती हैं।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति पालन संहारकर्ता और शासनकर्ता आदिके रूपमें किया गया है। यथा–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
(९।१०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
(१०।६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है। इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है। सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें

यह सम्पूर्ण प्रजा है। हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।' इसी तरह अ० ४। १३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता', अ० ५। २९ में 'सर्व-लोकमहेश्वर', अ०। ७। ६ में 'सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पत्ति-प्रलयरूप', अ० ११। ३२ में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है। जैसे—अध्याय २। १८ में 'नित्य अविनाशी अप्रमेय', अध्याय १३। २१ में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके संगसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला', अ० १५। ७ में 'सनातन अंश', अ० १५। १६ में 'अक्षर कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं। एक ओर जहाँ अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ दूसरी ओर (अ० १२। २ में) सगुणोपासककी भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है। इससे यह शङ्का होती है कि गीतामें

प्रतिपादन है या अभेदका ? जब भेद और अभेद दो
का स्पष्ट वर्णन मिलता है, तब उनमेंसे किसी एक
गलत नहीं कहा जा सकता । परन्तु सत्य कभी
नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है । अत
निषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है
वास्तवमें जो वस्तु तत्त्व है, उसको न भेद ही कह
सकता है और न अभेद ही । वह सबसे विलक्ष
मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति, वाणी या
युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती
जानते हैं वे ही जानते हैं । जाननेवाले भी
वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते । श्रुति कहती है·

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
(केन० ३

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ ले
तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अ
सुरक्षित और लाभदायक है, गीतामें दोनों प्रकारके वर्ण
यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्‌ने दो प्रक
अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया
वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है । वह अतर्क्य ।

रमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस त्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्मा-की शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

आगे चलकर भगवान्ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परमशान्ति को और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये आगे इन्होंने कहा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।

'सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर तू केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा । तू शोक मत कर ।'*

(३)

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
(४ । १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं । यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म । यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है । साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि १—इस लोक या परलोकमें जिसका

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें देखिये ।

फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है। २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता, उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हम लोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रक्खा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात होती तो फिर ऐसा कौन सा रहस्य था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं (*किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः*) और क्यों इसे गहन ही बतलाते?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मके रूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसगत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती है। इसमें भाव ही प्रधान है। जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसगत उत्तम कर्म किया जाता है, उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है, वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(१७ । १९)

'जो तप मूढतापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीडासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या

भगवदर्पणबुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (९ । २७ २८, १२ । १०-११) मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है । अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित होकर कर्तापन-के अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है, वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है (३ । २८, ५ । ८-९, १४ । १९) ।

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि अकर्तव्य या निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं । इनमें भी भाव ही प्रधान है—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखने-में विकर्म से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं (२ । ३७) ।

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं ।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (२। ३८, १८। १७)।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रियात्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है। इसमें भी भाव ही प्रधान है।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखने-पर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना

और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३ । ६; १८ । ७)।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अंदर समाधि-कालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म ही यथार्थ अकर्म है (२ । ५५, ५८, ६ । १९, २५)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता। भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

और वही संसार बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।'

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (२ । ३८, १८ । १७)।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है । क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रियात्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है । इसमें भी भाव ही प्रधान है ।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखने-पर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है । यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है ।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना

और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३ । ६; १८ । ७)।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अंदर समाधि-कालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म ही यथार्थ अकर्म है (२ । ५५, ५८, ६ । १९, २५)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता । भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं । इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंके करनेवाला है ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।'

(४)
क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकमें 'अपरा', 'परा' और 'अहम्' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पंद्रहवें अध्यायके सोलह और सत्रहवें श्लोकमें 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम' के नामसे है। इन तीनोंमें 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड जगत्के वाचक हैं, 'परा', 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहम्', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) दस इन्द्रियाँ,

एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर-तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेपरूप पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' है। या यों समझना चाहिये कि 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण और (एक) प्रकृतिके नामसे (कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'महद्ब्रह्म' शब्दसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'पराप्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' के

नामसे और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कूटस्थ और अक्षरके नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है, परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
(६।८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
(१२।३)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
(८।२१)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर

'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१ में 'पुरुष' शब्दसे है। वहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित और सदसद् योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण 'पुरुष' शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्ने भिन्न-भिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टिपालन और संहारकर्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे, कहीं धारणकर्ता और पोषणकर्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दोंसे जहाँ तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ (७। ६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५।१७)

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५।१८)

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
(१५।१५)

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।
(११।३)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तममें क्षर—प्रकृति तो जड और परिणामी है। अक्षर—जीवात्मा नित्य, चेतन, अविनाशी, प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके सदृश होते हुए भी अविद्याके कारण होनेसे उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश हो जानेपर जब वह परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता; वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यशुद्ध प्रकृतिसे सदा अतीत, सर्वथा असाधारण, अज, अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति

और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुतः परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परमपदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये, वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।'

(५)

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद?

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं। इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वाद विशेष नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप

कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
(८। १८-१९)

इसलिये वे यह भी जानते हैं कि 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं।'

और 'वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।'

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड़ पदार्थ अव्यक्त समष्टि-शरीरसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा

कि उत्पन्न या नष्ट होते हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्थूल उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्त-का ही स्थूलरूपमें परिणामको प्राप्त होना और दूसरा परिणाम स्थूलसे पुनः अव्यक्तरूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वोंका समुदाय (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३, ४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है। महासर्गके आदिमें सम्पूर्ण मूर्तियों (शरीरों) की उत्पत्तिमें महद्ब्रह्मको ही कारण बतलाया है अर्थात् जडवर्गके निर्माणमें इस प्रकृतिको ही हेतु माना है। अध्याय १३। १९-२० में भी कार्य-करणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप पाँच महाभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय—इन दसको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिकामें कहा है—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु

देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है । यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है । जीवात्मासहित जो चतुर्विध जीवोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और उस पुरुषके संयोगसे होती है । इनमें जितने देह–शरीर हैं,

---

विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष’ (सा० का० ३) । मूल प्रकृति विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति विकृति है, सोलह विकार है और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है ।

अव्याकृत मायाका नाम मूल प्रकृति है । यह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है । ऐसा कहा जाता है । महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि, अहङ्कार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति विकृति हैं । मूल प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं । एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसीसे इन्हें ही प्रकृति कहते हैं, अतएव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति विकृति है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत–ये सोलह विकृति हैं । सात प्रकृति अहङ्कार और तन्मात्राओंसे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं । इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है, इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं, विकृतिमात्र हैं । सांख्यके अनुसार मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे ११ इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्च स्थूल भूत । गीताके १३ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है ।

वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है। चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं। भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
(१४।४)

'हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।' गीतामें इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह-जगह मिलता है। कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९।१०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९।८) ऐसे वचन मिलते हैं। सिद्धान्त एक ही है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है, गुणोंसे अतीत है। इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है, परन्तु उसके परिणामसे परिणामी

नहीं होता । आठवें अध्यायके २० वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है।' इसीलिये गीताने उसीका समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(१३ । २७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता । वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है । इस प्रकार गीतामें परिणामवादका समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधारपर अद्वैत-मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं । भगवान्ने कहा है—मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना हो हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ-सा दीखता है (*न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे*

यागमैश्वरम् ९ । ५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) में है नहीं । पर दीखता है इस न्यायसे है भी । अतः यह सब मेरी मायाका खेल है । जैसे रज्जुमें बिना ही हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है । आगे चलकर भगवान्ने जो यह कहा है कि 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान ।' इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आकाशसे उत्पन्न होकर उसीमें रहनेवाले वायुके समान संसार भगवान्में है । यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये है । सातवें अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि सात्त्विक, राजस, तामस भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं (*न त्वहं तेषु ते मयि* ७ । १२) ।

'मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' (*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चि[illegible]*), 'सब कुछ वासुदे[illegible]
१९), 'इस सं[illegible]
यहाँ ([illegible]

तथोपलभ्यते) आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं। मेरी समझसे गीता किसी वादविशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंका समन्वय करके ईश्वरप्राप्तिके भिन्न भिन्न मार्ग बतलाती है। गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे
२ गीता सभीके लिये उपयोगी है। अपने-अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरण कर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ होना चाहिये।

(६)
ज्ञानयोग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

१ श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसंगानुसार भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-

एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसंगका अवतरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसंग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है। जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) साम्यज्ञा
निष्ठामें

(३
की
है, इससे

(४

(

गुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है।

(६) *लौकिक ज्ञान*–अ० १८ । २१–इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है।

(७) *शास्त्रज्ञान*–अ० १८।४२–इसमें 'विज्ञान' शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है—

(१) *भगवत् प्राप्तिरूप योग*–अ० ६ । २३–इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) *ध्यानयोग*–अ० ६ । १९–वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) *निष्काम कर्मयोग*–अ० २ । ४८–योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है।

(४) *भगवत्-शक्तिरूप योग*—अ० ९ । ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) *भक्तियोग*—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है।

(६) *अष्टाङ्गयोग*—अ० ८ । १२—'धारणा' शब्द साथ होने तथा मन इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है।

(७) *सांख्ययोग*—अ० १३ । २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंसे उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है—

(१) *ईश्वर*—अ० १० । १७—भगवान् श्रीकृष्ण-का सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) *आत्मज्ञानी*—अ० ६ । ८—ज्ञान विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण, मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्म-ज्ञानीका वाचक है।

(३) *ज्ञानी भक्त*—अ० १२ । १४—परमात्मामें मन, बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी भक्तका वाचक है ।

(४) *निष्काम कर्मयोगी*—अ० ५ । ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(५) *सांख्ययोगी*—अ० ५ । २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है ।

(६) *भक्तियोगी*—अ० ८ । १४—अनन्य चित्तसे नित्य निरन्तर भगवान्के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोगीका वाचक है ।

(७) *साधकयोगी*—अ० ६ । ४५—अनेक जन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है ।

(८) *ध्यानयोगी*—अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(७) *सकाम कर्मयोगी*—अ० ८ । २५-वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है ।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है—

(१) *तत्त्वज्ञानी*—अ० ६ । ८—ज्ञान विज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है ।

(२) *निष्काम कर्मयोगी*—अ० ५ । १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(३) *सांख्ययोगी*—अ० ५ । ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है ।

(४) *ध्यानयोगी*—अ० ६ । १८—वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(५) *संयमी*—अ० २ । ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्मपरायण होनेसे यह संयमीका वाचक है ।

(६) *संयोगसूचक*—अ० ७ । २२—श्रद्धाके

साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है ।

(७) *यथायोग्य व्यवहार*—अ० ६ । १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है ।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह अर्थोंमें हुआ है—

(१) *परमात्मा*—अ० ३ । १७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें संतुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है ।

(२) *ईश्वर*—अ० १० । २०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है ।

(३) *शुद्धचेतन*—अ० १३ । २९—अकर्ता होनेसे शुद्धचेतनका वाचक है ।

(४) *परमेश्वरका स्वरूप*—अ० ७ । १८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण यह स्वरूप ही समझा जाता है । इससे स्वरूपका वाचक है ।

(५) *परमेश्वरका साकारस्वरूप*—अ० ४ । ७—अवताररूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुण स्वरूपका वाचक है ।

(६) *जीवात्मा*–अ० १६ । २१–अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है ।

(७) *बुद्धि*–अ० १३ । २४–(आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है । अतः यह बुद्धिका वाचक है ।

(८) *अन्तःकरण*–अ० १८ । ५१–इसमें *'आत्मानम् नियम्य'* यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तःकरणका वाचक है ।

(९) *हृदय*–अ० १५ । ११–इसमें 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्' 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए तत्त्वसे जानते हैं । आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है ।

(१०) *शरीर*–अ० ६ । ३२–*'आत्मौपम्येन'* अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है ।

(११) *निजवाचक*–अ० ६ । ५–आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निजवाचक है ।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है—

(१) *परमात्मा*—अ० ७ । २९—भगवान्‌के शरण होकर जरा मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है ।

(२) *ईश्वर*—अ० ५ । १०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है ।

(३) *प्रकृति*—अ० १४ । ४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है ।

(४) *ब्रह्मा*—अ० ८ । १७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है ।

(५) *ओंकार*—अ० ८ । १३—'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे ओंकारका वाचक है ।

(६) *वेद*—अ० ३ । १५ (पूर्वार्ध)—कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है ।

(७) *परमधाम*—अ० ८ । २४—शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परमधामका वाचक है ।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग तीन अर्थोंमें हुआ है—

(१) *परमात्मा*—अ० १२ । १—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है ।

(२) *शुद्धचेतन*—अ० २ । २५—स्पष्ट है ।

(३) *प्रकृति*—अ० १३ । ५—स्पष्ट है ।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है—

(१) *परमात्मा*—अ० ८ । ३—ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है ।

(२) *जीवात्मा*—अ० १५ । १६—कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है ।

(३) *ओंकार*—अ० ८ । ११—स्पष्ट है ।

(४) *वर्ण*—अ० १० । ३३—स्पष्ट है ।

(७)

गीतामें भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है । यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है ।

इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है, परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है, इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है, यह तो गीताका सच्चा महत्त्व बतलानेके लिये है। वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है, सुतराम् जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है। इसीलिये भिन्न भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते। जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है इसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्‌के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है।

अतएव भगवान्‌की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारसे भासता है। कृपासिन्धु भगवान्‌ने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीताशास्त्रका उपदेश किया है। ऐसे गीताशास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे सदृश साधारण मनुष्यके लिये बालचपलतामात्र है। मैं इस विषयमें कुछ कहनेका अपना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये है। निवेदन है कि भक्त और विज्ञजन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करें।

गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों सिद्धान्तोंकी ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं, जिसमें भक्तिका कुछ प्रसंग न हो। गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है। आरम्भमें अर्जुन *'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* कहकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है और अन्तमें भगवान् *'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'* कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंका आश्रय सर्वथा परित्यागकर केवल भगवदाश्रय—अपने आश्रय

होनेके लिये आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा कर देनेका भी जिम्मा लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है। अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जडता नहीं है। गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है। गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्वयं बतलाये हैं। गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है। वास्तवमें भगवान्‌का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्‌को देखता है वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है? जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं? जो भक्त सब जगत्‌को परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है? एवं जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है?

इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'युद्ध करो, परन्तु सब समय मेरा (भगवान्का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्में) अर्पित मन, बुद्धिसे युक्त होकर करो।' यही तो निष्काम कर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निःसन्देह परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकारकी आज्ञा अध्याय ९। २७ और १८। ५७ आदि श्लोकोंमें दी है।

इसका यह मतलब नहीं कि केवल कर्मयोग या केवल भक्तियोगके लिये भगवान्ने स्वतन्त्ररूपसे कहीं कुछ भी नहीं कहा है। *'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'योगस्थः कुरु कर्माणि'* आदि श्लोकोंमें केवल कर्मका और *'मन्मना भव' 'भक्त्या मामभिजानाति'* आदिमें केवल भक्तिका वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रच्छन्न है। समत्वरूप योगमें स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और भक्ति, पूजा, नमस्कार आदि भगवद्भक्तिपरक क्रियाओंको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है। साधारण

सकामकर्मी और उसमें भेद इतना ही है कि सकामकर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामनासिद्धिके लिये करता है और निष्कामकर्मी भगवत्-प्रीत्यर्थ करता है। स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग बतलाया है (१८।७)। एवं अ० ३ श्लोक ४ में कर्मत्यागसे सिद्धिका नहीं प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमें स्वरूपसे कर्मत्यागको असम्भव भी बतलाया है। अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्के स्वरूपमें स्थित होकर भगवान्की आज्ञा मानकर भगवान्के लिये मन, वाणी, शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोंका आचरण करना ही भगवान्की भक्ति है और इसीसे परमसिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इस प्रकारसे कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्ति-

के कारण ही होते हैं। इनमें पतनका डर बिल्कुल नहीं रहता है। भगवान्‌ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धकालमें ज्ञानीको भी लोकसंग्रह यानी जनताको सन्मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है।—*'तस्य कार्यं न विद्यते।'*

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मशील पुरुष थे, इसलिये भी उन्हें कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा है और शास्त्रमें सर्वसाधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है। संसारमें तमोगुण अधिक छाया हुआ है। तमोगुणके कारण लोग भगवत्तत्त्व से अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमें भजन, ध्यानके बहाने नींद, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते हैं। ऐसा देखा भी जाता है कि कुछ लोग 'अब तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन, ध्यान ही किया करेंगे' कहकर कर्म छोड़ देते हैं, परन्तु थोड़े ही दिनोंमें उनका मन एकान्तसे हट जाता है। कुछ लोग सोनेमें समय बिताते हैं, तो कोई कहने लगते हैं 'क्या करें, ध्यानमें मन नहीं लगता।' फलत कुछ तो निकम्मे हो जाते हैं और कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें

प्रवृत्त हो जाते हैं । सच्चे भजन, ध्यानमें लगनेवाले विरले ही निकलते हैं । एकान्तमें निरामकर भजन, ध्यान करना बुरा नहीं है । परन्तु यह साधारण बात नहीं है । इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमश बढ़ाया और गाढ किया जा सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये । परमेश्वरके ध्यानकी गाढ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका सयोग वियोग बाधक साधक नहीं है । प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है । प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है । इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती । परन्तु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है ।

अधिकारियोंके लिये *'विविक्तदेशसेवित्वम्'* और *'अरतिर्जनससदि'* होना उचित ही है, परन्तु संसारमें प्राय अधिकाश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं ।

एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण है। जो क्षणभरके भगवान्के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत् प्रेमकी विह्वलतासे बाह्य ज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशोआराम भोगके दर्शन-श्रवणमात्रसे ही ताप होने लगता है, ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही इन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेमकी सरितामें एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मारूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है। परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिसंख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है,

प्राय वही बतलाया जाता है, यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्की ओर मोड देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील था इससे कर्मकी बात कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ, क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला, परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश, सभी जाति, सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं, अवश्य ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है, क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट, भक्तिहीन मनुष्योंमें इसके प्रचारका निषेध किया है (१८। ६७)। भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यों न हो, सभी इस अमृतपानके पात्र हैं (९। ३२)।

यदि यह कहा जाय कि गीतामें तो सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है। भक्तिकी

तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकती है? उपासनारहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञान ही प्रशंसनीय है। गीतामें भक्ति ज्ञान और कर्म दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है—परमात्माके स्वरूपमें स्थिति। यह स्थिति जो परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ। इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसकी आज्ञानुसार फलासक्ति त्यागकर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा और जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थित है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और मायामात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है उसे सांख्यनिष्ठा कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना भरी है। अतएव भक्तिको तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे

कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । इसपर यदि कोई यह कहे कि तब तो निष्काम कर्मयोग और ज्ञान-योगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि भगवान्‌ने केवल भक्तियोगसे स्थान-स्थानपर परमात्माकी प्राप्ति होना बतलाया है । साक्षात् दर्शनके लिये तो यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता (११ । ५४) । ध्यानयोगरूपी भक्ति-को (१३ । २४ में) *'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'* कहकर भगवान्‌ने और भी स्पष्टीकरण कर दिया है । इस ध्यान-योगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी । यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है । इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है । अतएव हमलोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्य भक्ति का आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये ।

(८)

गीता-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनके प्रश्न हैं--

(१) गीता वेदोंको मानती है कि नहीं ? यदि मानती है तो किस दृष्टिसे ? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५

४६, ५३ में वेदोंको क्यों नीचा दरजा दिया है ?

(२) गीता वर्णाश्रम धर्मको मानती है या नहीं ? यदि मानती है तो किस प्रकारसे ? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम धर्मको क्यों चाहती है ? अगर मानती है तो सब धर्म छोड़कर अ० १८ के ६६ (श्लोक) का क्या अर्थ है ? जब कि शूद्र और नीच योनियोंको परमगति होना लिखा है ।

(३) गीता कर्मको मानती है या ज्ञानको, या दोनोंको ? यदि केवल कर्मको मानती है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञानको मानती है तो कर्म निष्फल है, यदि ज्ञानको बताती है तो कर्मको क्यों चाहती है ?

(४) गीता मूर्तिपूजाको मानती है कि नहीं ? यदि नहीं मानती है तो अ० ९ के २६ वें श्लोकका क्या अर्थ है ? यदि मानती है तो निर्गुण या सगुण ?

(५) गीतामें लिखा है कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये तो क्या अर्जुन शिष्य थे ? क्या अर्जुनको उपदेश देनेसे ज्ञान हुआ ? क्या वे परमपदको प्राप्त हुए ?

(६) गीताको भगवान् कृष्णने अपने मुखारविन्दसे वर्णन किया है या (उसके) रचयिता कोई और पुरुष थे ?

उत्तर

(१) गीता वेदोंको मानती है और उनको बहुत ऊँची दृष्टिसे देखती है। दूसरे अध्यायके इन श्लोकोंमें वेदोंकी निन्दा नहीं की गयी है, केवल भोग ऐश्वर्य या स्वर्गादिरूप क्षणभङ्गुर और विनाशी फल देनेवाले सकाम कर्मोंसे अलग रहकर आत्मपरायण होनेके लिये कहा गया है। भोगोंमें मनुष्यकी स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। इसपर यदि 'अमुक कर्मसे बहुत धन मिलेगा।' 'अमुक कर्मसे मनचाहे स्त्री-पुत्रादि मिलेंगे।' 'अमुकसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी।' आदि सुहावने वचन सुननेको मिल जायँ तब तो मनका अपहरण हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भोग-लालसा बढ़कर बुद्धिको डाँवाँडोल कर देती है। बहुशाखावाली बुद्धिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती और उसके हुए बिना दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे आगे चलकर नवें अध्यायमें फिर कहा गया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(९ । २०-२१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष मुझे यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपने पुण्योंके फलस्वरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार (स्वर्गके साधन-रूप) तीनों (ऋक्, यजु, साम) वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगकामनावाले पुरुष बारबार आवागमनको प्राप्त होते हैं ।'

तात्पर्य यह कि सकाम कर्ममें लगे हुए पुरुषोंको बारबार संसारमें आना जाना पड़ता है, उन्हें जन्मरूप कर्मफल ही मिलता है । जन्म-मृत्युके चक्रसे उनका पिण्ड नहीं छूटता । इस विवेचनसे यह बतलाना है कि यहाँ वास्तवमें वेदकी निन्दा नहीं है । सकाम कर्म, परम श्रेयकी प्राप्ति नहीं करानेवाले होनेके कारण उन्हें

निष्काम कर्म और निष्काम उपासनाकी अपेक्षा नीची श्रेणीका बतलाया है। उनको बुरा नहीं बताया, यह कहीं नहीं कहा कि वैदिक सकामकर्मी पुरुष 'मोहजालसमावृता' आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषोंकी तरह 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' या 'आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्' [१६ । २०] अपवित्र नरकमें पड़ते हैं या हे कौन्तेय! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न पाकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं। बल्कि यह कहा है कि वे पुण्यरूप (देवऋणरूप पापोंसे मुक्त होकर) स्वर्गकी इच्छासे यज्ञद्वारा भगवत् पूजा करनेवाले होनेके कारण स्वर्गके दिव्य और विशाल भोगोंको भोगते हैं।

पक्षान्तरमें वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाले अनेक वचन गीतामें मिलते हैं—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' [३ । १५] 'कर्मको वेदसे और वेदको अक्षर परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान।' 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥' [१७ । २३] 'ॐ, तत्, सत् ये ब्रह्मके त्रिविध नाम कहे हैं, सृष्टिके आदिमें

ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उसीसे रचे गये हैं।' इन वचनोंसे वेदकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई बतलायी गयी है। *'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥'* [[redacted] । ३२] 'ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेद-वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' यहाँ वैदिक कर्मोंका तत्त्व समझकर उनके निष्काम आचरणसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। *'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति।'* [८ । ११] 'वेदको जाननेवाले जिस परमात्माको अक्षर (ओंकार नामसे) कहते हैं।' इसमें वेदकी प्रशंसा स्पष्ट है। ठीक यही वाक्य कठोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमें है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१। २। १५)

' *पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च'* [९। १७]
'पवित्र ओंकार, ऋक्, साम तथा यजुर्वेद मैं ही हूँ।' इन

वचनोंसे गीताकार भगवान्ने वेदको अपना स्वरूप माना है। '*छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।*' [१३ । ४] 'विविध वेदमन्त्रोंसे (क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व) विभागपूर्वक (वर्णित है) कहकर अपने वचनोंकी पुष्टिमें वेदका प्रमाण दिया है '*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।*' [१५ । १५] 'समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ।' और 'वेदान्तका कर्ता तथा वेदवित् भी मैं ही हूँ।' इन वचनोंसे भगवान्ने अपनेको वेदसे वेद्य और वेदका ज्ञाता बतलाकर वेदकी महान् प्रतिष्ठा स्पष्ट स्वीकार की है। इसके सिवा और भी कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वेदोंकी प्रशंसा की गयी है।

इससे यह पता लग जाता है कि गीता वेदको नीचा नहीं मानती। गीताने केवल सकाम कर्मको ही निष्काम-की अपेक्षा नीचा बतलाया है। वास्तवमें इस लोक और परलोकके भोगपदार्थ तो मोक्षसे सदा ही नीचे हैं। स्वयं वेद भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें इसका विवेचन है। कठोपनिषद्के यम-नचिकेता-संवादमें प्रेय-श्रेयका विवेचन करते हुए यमराजने भोग-ऐश्वर्यादि प्रेयकी निन्दा और मोक्ष—श्रेयकी बड़ी प्रशंसा की है एवं भोग-ऐश्वर्यमें

अनासक्त होनेके कारण नचिकेताकी बहुत बड़ाई की है (कठ० २ । १, २, ३)। इसी प्रकारकी बात गीतामें है। निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और आत्मतत्त्वकी जगह जगह प्रशंसा करके गीताने प्रकारान्तर-से वेदका ही समर्थन किया है।

(२) गीता वर्णाश्रमको मानती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण अपने अपने स्वाभाविक वर्णधर्मका स्वार्थरहित निष्काम भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ आचरण करें तो उनकी मुक्ति होना गीताको सर्वथा मान्य है। अध्याय १८ श्लोक ४१ से ४४ तक चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर ४५ ४६ में उन्हीं स्वाभाविक कर्मोंसे उनके लिये परम सिद्धिकी प्राप्ति होना बतलाया है और ४७-४८ में वर्णधर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

गीता जन्म कर्म दोनोंसे वर्ण मानती है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' [४ । १३] 'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे-द्वारा रचे गये हैं।' इन वचनोंसे उनका पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप गुणकर्मके अनुसार रचा जाना सिद्ध होता है न कि पीछेसे मानना। इसीलिये गीता वर्णधर्मको

'स्वभावज' और 'सहज' (जन्मके साथ ही उत्पन्न होनेवाला) कर्म कहती है। परमेश्वरकी शरण होकर कोई भी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा निष्कामभावसे उसकी उपासना करके मुक्त हो सकता है। कर्मोंमें भेद मानती हुई भी मुक्तिके सम्बन्धमें गीता सबका समान अधिकार बतलाती है। गीताकी घोषणा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९। ३२-३३)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।' 'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पाप-योनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं फिर पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तोंका तो कहना ही क्या है? अतएव

तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

अध्याय १८ । ६६ में *'सर्वधर्मान्परित्यज्य'* का अर्थ सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है । क्योंकि पहले अध्याय १६ । २३-२४ में शास्त्रविधिके त्यागसे सिद्धि, सुख और परमगतिका न होना बतलाकर शास्त्रविधिसे नियत किये हुए धर्मका पालन करना कर्तव्य बतलाया है । अध्याय १८ । ४७ ४८ में भी स्वधर्म पालनपर बड़ा जोर दिया है । वहाँ ऐसा प्रतिपादन करके यहाँ सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आज्ञा देना सम्भव नहीं । यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि अपने वचनोंके विरुद्ध यहाँ भगवान्ने स्वरूपसे धर्म छोड़नेकी आज्ञा ही दी है तो फिर अ० १८ । ७३ में *'करिष्ये वचनं तव'* 'आपकी आज्ञानुसार करूँगा' कहकर अर्जुनका युद्धरूप वर्णधर्मका आचरण करना उससे विरुद्ध पड़ता है । भगवान्ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा दी । अर्जुनने उसे स्वीकार भी कर लिया, फिर उसके विरुद्ध अर्जुन युद्ध क्यों करता ? इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा नहीं दी । यहाँ *'सर्वधर्मान्परित्यज्य'* से उनका यही मतलब है कि मनुष्य-

को सब धर्मोंका 'आश्रय' छोड़कर केवल एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये । धर्मको स्वरूपसे त्यागकी बात नहीं है । बात है केवल आश्रय (शरण) के त्यागकी । यह तो वर्ण धर्मकी बात हुई । वर्णकी भाँति आश्रम-धर्मका गीतामें स्पष्ट और विस्तृत वर्णन नहीं है । गौणरूपसे आश्रमको गीताने स्वीकार किया है । *'ब्रह्मचर्यं चरन्ति' 'यतयो वीतरागाः' [८ । ११] 'तपस्विभ्यः ।' [६ । ४६]* 'ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं' 'आसक्तिरहित सन्यासी' 'तपस्वियोंसे' आदि शब्दोंसे ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थका निर्देश किया गया है । गृहस्थका वर्णन तो स्पष्ट ही है ।

(३) गीता अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों निष्ठाओंको मुक्तिके दो स्वतन्त्र साधन मानती है। दोनों ही निष्ठाओंका फल एक भगवत्प्राप्ति होनेपर भी दोनोंके साधकोंकी कार्यपद्धति, उनके भाव और पथ सर्वथा भिन्न भिन्न होते हैं । दोनों निष्ठाओंका साधन एक ही कालमें एक पुरुषद्वारा नहीं बन सकता ।

निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर-परायण

ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही समस्त कर्म करता है और ज्ञानयोगी मायाके गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं यों समझकर देहेन्द्रियोंसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वाहङ्कार न रखकर केवल सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें ऐक्य-भावसे स्थित रहता है ।

दोनोंमेंसे किसी भी निष्ठाके अनुसार स्वरूपसे कर्म त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है । उपासनाकी आवश्यकता दोनोंमें है । इस विषयका विस्तृत विवेचन 'गीतोक्त संन्यास' और 'गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेखोंमें किया गया है* ।

(४) गीता मूर्तिपूजाको मानती है, अध्याय ९ । २६ और ९ । ३४ के श्लोकसे यह प्रमाणित है । अब रही स्वरूपकी बात सो गीताको भगवान्के सगुण निर्गुण दोनों ही स्वरूप मान्य हैं । उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

* 'गीताका सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग' लेख पुस्तकाकार भी छप गया है, गीताप्रेससे मिल सकता है ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(४ । ६–९)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ११, २६, ३४)

भगवान् कहते हैं—'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ । हे भारत ! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ । साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।' हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको

त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं । पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं (सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित) खाता हूँ । (तू) मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझ वासुदेवको ही प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा ।'

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
(१० । १२ १३ और ११ । १७, ४६)

अर्जुन कहते हैं—

'आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन, दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास और स्वयम् आप भी मेरे प्रति कहते हैं । आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब तरफसे प्रकाशमान, तेजका पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेय-स्वरूप सब ओरसे देखता हूँ । मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथोंमें लिये हुए देखना चाहता हूँ । अतएव हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! [illegible] चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये अर्थात् [illegible] हो ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(१२ । २)

भगवान् कहते हैं—'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उन्हें अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥
(१८ । ७७)

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—

'हे राजन्! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार हर्षित होता हूँ।'

उपर्युक्त श्लोक सगुणस्वरूपके प्रतिपादक हैं। नीचे निर्गुणके प्रतिपादक श्लोक हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(६ । ३१)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(८ । २१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ४५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ३४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(१३ । १५, २७, ३०)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(१८।२०)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। (जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। (जो) अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं वह मेरा परमधाम है। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् (जलमें बर्फके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार स्थित हैं (इसलिये वास्तवमें) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, और (वे) सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। (किन्तु) मेरी योगमाया और प्रभावको देख (कि)

भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंका उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा (वास्तवमें) भूतोंमें स्थित नहीं है। जो पुरुष इन्द्रियसमुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए सबमें समान भाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं। (परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी (वही) है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और अति दूरमें भी वही स्थित है। जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही देखता है। (पुरुष) जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस कालमें (वह) सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है। जिस ज्ञानसे (मनुष्य) पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित (समभावसे

स्थित) जाता है, उस ज्ञानको (ख) सात्त्विक ज्ञान।

(५) गीतामें कहीं यह नहीं कहा गया कि बिना शिष्य बनाये किसीको उपदेश नहीं करना चाहिये। यद्यपि अर्जुन तो अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानता ही था—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' [२ । ७] 'आपका शिष्य हूँ, आपके शरण हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर अर्जुनने शिष्यत्व स्वीकार किया है और भगवान्‌ने इसका विरोध न कर तथा जगह-जगह अर्जुनको अपना इष्ट प्रिय और भक्त मानकर प्रकारान्तरसे उसका शिष्य होना स्वीकार किया है। अर्जुनको परम पदकी प्राप्ति हुई थी, इसका उल्लेख महाभारत स्वर्गारोहणपर्वके चतुर्थ अध्यायमें है।

(६) गीता भगवान्‌के ही श्रीमुखका वचनामृत है। गीतामें जितने वचन 'श्रीभगवानुवाच' के नामसे हैं उनमें कुछ तो श्रुतियोंके प्रायः ज्यों-के-त्यों वचन हैं जो अर्जुनको श्लोकरूपमें ही कहे गये थे और अवशेष संवाद बोलचालकी भाषामें हुआ था जिसको भगवान् श्रीव्यासदेवने श्लोकोंका रूप दे दिया।

(९)

गीता सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर

एक सज्जन लिखते हैं कि 'मेरी जहाँतक भावना है, अशान्त व्यक्तिके लिये गीतासे बढ़कर शान्ति-प्रदायक कोई ग्रन्थ नहीं है, तथापि गीताके श्लोकोंमें कहीं कहीं पूर्वापर-विरोधात्मक भावोंका भान होता है। यद्यपि ऐसा भान होना मुझ-जैसे अल्पज्ञोंका केवल भ्रम भी हो सकता है, परन्तु इस विषयमें गीताके जौहरियोंके बिना जौहर देखे सन्तोष कर लेना अपने आपको और भी भ्रममें रखनेके पापका भागी होना पड़ेगा, अतः इस विषयमें कुछ शङ्काएँ समाधानार्थ उपस्थित की जाती हैं।'

शङ्काएँ ये हैं—

(१) गीताके १८ वें अध्यायके श्लोक ५९-६०-६१ में भगवान्‌ने अर्जुनके हृदयमें ऐसा भाव क्यों भरा कि 'युद्धसे विमुख होनेपर प्रकृति तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी?'

(२) उपर्युक्त भाव भरनेसे क्या मनुष्यकी अपने व्यक्तित्वसे आस्था न उठ जायगी?

(३) आस्था उठ जानेपर क्या मनुष्य सत्कार्यादिके करनेमें उत्साहरहित नहीं हो जायगा ?

(४) १८ वें अध्यायके ६७ वें श्लोकमें भगवान्‌ने तपश्चर्यारहित व्यक्तिको 'आत्मनिश्चयक' ज्ञानोपदेश करनेसे मना क्यों किया ?

(५) क्या ६१ वें श्लोकमें उपदिष्ट *'यन्त्रारूढानि मायया'* भक्तोंके विषयमें ग्राह्य नहीं है ? यदि नहीं तो क्यों ? और यदि है तो वे बेचारे उपदेशसे वञ्चित क्यों रक्खे गये ? न्यायसे तो ज्ञानके अभावमें दरिद्र होनेके कारण वे ही विशेष अधिकारी हैं, किन्तु ऐसा किया नहीं गया ।

(६) क्या ऐसा करनेपर भी समदर्शिताकी रक्षा हो सकती है ?

शङ्काओंका समाधान

(१) भगवान्‌ने अर्जुनको अपनी प्रकृतिके वश होकर युद्धमें नियुक्त होनेकी बात बहुत ठीक कही है । प्रकृतिका अर्थ यहाँ स्वभाव है । पूर्वकृत पाप-पुण्यके अनुसार संस्कार बनते है, संस्कारोंसे सञ्चित बनता है, सञ्चितके एक अंश विशेषसे प्रारब्ध बनता है । असंख्य सञ्चित और प्रारब्धके जो समुदाय हैं उन

सबके मिले हुए भावको स्वभाव कहते हैं, इस स्वभावसे स्मृति उत्पन्न होती है और उससे क्रियाएँ बनती हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार क्रिया करनेमें पुरुष स्वभावके ही अधीन रहता है। ज्ञानीको भी अपने स्वभावानुसार क्रिया करनी पड़ती है। भगवान्‌ने कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

अर्थात् ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चेष्टा करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि स्वभावमें परिवर्तन नहीं होता, प्रयत्नसे स्वभाव बदला जाता है और स्वभाव बदलनेसे क्रिया भी बदल जाती है। ज्ञानीकी वृत्तियोंमें राजस और तामस भावोंका तो साधन कालमें ही नाश हो जाता है, उसकी सत्त्वप्रधान वृत्ति होनेसे उसका स्वभाव सात्त्विक बन जाता है, तदनुसार उसके द्वारा सारी सात्त्विक क्रियाएँ होती हैं। अर्जुनके उस समयके क्षत्रिय-स्वभावको जानकर ही भगवान्‌ने कहा कि *'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'* या *'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः अवशः करिष्यसि'* 'तुझको क्षत्रियपनकी प्रकृति युद्धमें लगा देगी' या 'अपने

कर्मसे बँधा हुआ तू परवश होकर (युद्ध) करेगा। इसमें यह समझना चाहिये कि जबतक स्वभाव नहीं बदलता तबतक उस स्वभावके अनुसार ही क्रियाएँ होती हैं। परन्तु कोई भी क्रिया मनुष्यको बन्धनकारक नहीं होती, बाँधनेवाले होते हैं 'राग-द्वेष' जिनका मनुष्य अपने पुरुषार्थसे नाश कर सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३ । ३४)

'इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित जो राग और द्वेष हैं उन दोनोंके वशमें नहीं होवे, क्योंकि वे दोनों ही इस मनुष्यके कल्याण मार्गमें विघ्न डालनेवाले महान् शत्रु हैं।'

(२) इन भावोंसे मनुष्यकी अपने पुरुषार्थमें आस्था नहीं उठती। गीतामें यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य पुरुषार्थसे राजसी-तामसी भावोंका दमन कर अपने स्वभावको बदल सकता है, जिससे उसकी क्रियामें भी परिवर्तन हो जाता है। भगवान्‌ने जगह-जगह काम क्रोधके त्यागकी आज्ञा दी है और त्यागके उपाय भी

बतलाये हैं । यह नहीं कहा कि मनुष्य इन कुमार्गोंको जीत नहीं सकता । स्वाभाविक होनेके कारण अर्जुनके क्षात्र-स्वभावकी क्रिया उस समय नहीं बदल सकती थी, परन्तु अर्जुन राग-द्वेष और काम-क्रोधसे खूब बच सकता था । युद्धरूपी क्रिया भी अन्यायपूर्वक हो तो पतन करनेवाली, न्याययुक्त हो तो स्वर्गमें पहुँचानेवाली और निष्काम भावसे भगवदर्थ होनेपर मुक्ति देनेवाली होती है । क्रियाका रूप बदलनेकी आवश्यकता नहीं, कर्ताका भाव बदलना चाहिये, जिसके बदलनेमें वह समर्थ माना गया है । राग द्वेषके नाशसे ही मनुष्यकी क्रिया भगवदर्थ हो जाती है । इस राग-द्वेष और उसके स्थूलरूप काम क्रोधके त्यागके लिये भगवान्‌ने जगह-जगह उपदेश दिया है और मनुष्यको इसमें समर्थ भी बतलाया है । यथा—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
(३ । ४१–४३)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस (काम) पापीको निश्चयपूर्वक मार। (यदि तू यह समझता है कि इन्द्रियोंको रोककर कामरूप वैरीको मारनेकी मेरी शक्ति नहीं है तो यह तेरी भूल है, क्योंकि इस शरीरसे तो) इन्द्रियोंको श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

(३) इस शङ्काका उत्तर उपर्युक्त दूसरीके उत्तरमें आ गया है। जब मनुष्य अपने पुरुषार्थसे काम, क्रोधको जीतकर सदाचरणमें प्रवृत्त हो सकता है, तब वह साधनादिमें उत्साहरहित क्यों होने लगा ?

(४) १८ वें अध्यायके ६४ वें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपना अतिशय प्रिय बतलाकर उसको 'सर्वगुह्यतम' परम रहस्ययुक्त उपदेश देनेकी प्रतिज्ञा की है। बहुत गुह्य बात बहुत ऊँची श्रेणीके विश्वासपात्र अधिकारीके अतिरिक्त अन्य किसीसे नहीं कही जाती।

ऐसा अधिकारी वही होता है जो विशेष श्रद्धासम्पन्न परम प्रेमी हो। भगवान्‌ने शास्त्रोक्त ज्ञानोपदेशके लिये मने नहीं किया है, मने किया है अपने ईश्वरत्व-सम्बन्धी गुप्त रहस्यको प्रकट करनेके लिये। आगे चलकर विश्वासी भक्तोंमें इस रहस्यको बतलानेकी प्रशंसा भी की है। यह मनाही न तो ज्ञानोपदेशके लिये है और न ईश्वरकी शरणागतिके लिये ही है। व 'मुझमें ही मन लगा, मेरा ही भक्त बन, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, तुझे मैं तार दूँगा, मेरी शरण आ जा, पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा। यानी मैं जो तेरे सामने श्रीकृष्णके रूपमें स्थित हूँ, वही साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ, दूसरी ओर ताकनेकी आवश्यकता नहीं।' इत्यादि रहस्यकी बातें अभक्तोंके सामने न कहनेके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी है। ईश्वर-शरणागतिकी आज्ञा तो सबके लिये है। जहाँ ६१ वें श्लोकमें यह कहा है कि 'शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको ईश्वर अपनी मायासे भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है' वहीं अगले ६२ वें श्लोकमें उस परमात्माके शरण ग्रहण [illegible] परम शान्ति और शाश्वत परम धामकी [illegible] है।

(५) अतएव १८ वें अध्यायके ६१ वें श्लोकका उपदेश सबके लिये माह्य है, इसके लिये कहीं मनाही भी नहीं की है, न इस उपदेशसे कोई वञ्चित ही रक्खा गया है, बल्कि यह ईश्वर शरणागतिका उपदेश तो सबके लिये बतलाया गया है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९ । ३०-३२)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पाप-योनिवाले (चाण्डालादि) भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

(६) गीताकी समदर्शितामें कोई हानि नहीं होती, क्योंकि भगवान्‌ने जो निषेध किया है सो भेद, घृणा या द्वेषादिके हेतुसे नहीं किया है । भेद, घृणा और द्वेषका तो वहाँ सर्वथा अभाव है । अपात्र होनेके कारण जो बात उसपर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती, उसीके लिये निषेध किया है । भगवान‌ने यह स्पष्ट ही कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

'यद्यपि मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ ।'

जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुई भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होती है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है । इसमें कोई विषमता नहीं है । जैसे अग्नि किसीसे यह नहीं

कहती कि मैं तेरे द्वारा प्रकट नहीं होती। जो साधन करता है उसीके सामने प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार ईश्वर भी भजन करनेवालेके अन्तरमें प्रकट होता है। जैसे भगवान् सूर्यका प्रकाश सब जगह समभावसे रहनेपर भी दर्पणादि पदार्थ उज्ज्वल होनेसे उसे विशेषरूपसे ग्रहण करते हैं और सूर्यकान्तमणिसे अग्नि प्रकट हो जाती है। इसमें सूर्यमें कोई विषमता नहीं है। पात्रकी तारतम्यता है। इसीलिये पात्रोंकी शक्तिके अनुसार ही उनको उपदेश दिया गया है, उद्देश्य सबका समानरूपसे कल्याण करना ही है।

(१०)

गीताका उपदेश

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये '*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*' कहा गया है, ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया और क्यों उनका आश्रय लिया?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे? यदि श्रद्धालु थे तो

श्रीभगवान्‌को उन्हें समझानेके लिये शब्द प्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई ?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन् ! आपने सख्यभावसे मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया ।' तो क्या अर्जुन प्राप्त ज्ञानको भूल गये थे ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनञ्जय ! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुन मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ ।' तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे जिससे उन्होंने पुन वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है ?

(५) यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया ?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं—

कहती कि मैं तेरे द्वारा प्रकट नहीं होती। जो साधन करता है उसीके सामने प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार ईश्वर भी भजन करनेवालेके अन्तरमें प्रकट होता है। जैसे भगवान् सूर्यका प्रकाश सब जगह समभावसे रहनेपर भी दर्पणादि पदार्थ उज्ज्वल होनेसे उसे विशेषरूपसे ग्रहण करते हैं और सूर्यकान्तमणिसे अग्नि प्रकट हो जाती है। इसमें सूर्यमें कोई विषमता नहीं है। पात्रकी तारतम्यता है। इसीलिये पात्रोंकी शक्तिके अनुसार ही उनको उपदेश दिया गया है, उद्देश्य सबका समानरूपसे कल्याण करना ही है।

(१०)

गीताका उपदेश

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये *'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'* कहा गया है, ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया और क्यों उनका आश्रय लिया?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे? यदि श्रद्धालु थे तो

श्रीभगवान्‌को उन्हें समझानेके लिये शब्द प्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई ?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन् ! आपने सख्यभावसे मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया !' तो क्या अर्जुन प्राप्त ज्ञानको भूल गये थे ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनञ्जय ! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुन मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ।' तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे जिससे उन्होंने पुन वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है ?

(५) यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया ?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं—

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥

'हे गणनायक ! तुम मेरे मनोकल्पित और वक्तव्यरूप इस भारतके लेखक बनो ।' गीता महाभारतके अन्तर्गत है, इससे यह भी क्या व्यासजीकी मनोकल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हींके रचे हुए हैं ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमश उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्के निश्वासस्वरूप वेदका अङ्ग होनेसे उपनिषद् भी भगवान्के ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं । उनके आश्रयकी कोई बात नहीं, भगवान्ने ससारमें उनकी विशेष महिमा बढानेके लिये ही उनका प्रयोग किया । इसके सिवा उपनिषद्की भाषा और वर्णनशैली जटिल होनेसे उनको अधिकाश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये लोक कल्याणार्थ भगवान्ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी अमृतका दोहन किया । वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है ।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी तुलना नहीं की जा सकती । अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न परम विश्वासी प्रिय भक्त थे । भगवान्ने स्वय श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति'

'इष्टोऽसि मे दृढमिति'

'प्रियोऽसि मे'

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ इष्ट है, प्रिय है' आदि। ऐसे अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही भगवान् सदा उसके साथ रहे, यहाँतक कि उसके रथके घोड़े स्वय हाँके। आजके भक्तोंकी पुकारसे तो भगवान् पूजामें भी नहीं आते। अतएव यह नहीं मानना चाहिये कि अर्जुन श्रद्धालु नहीं था। भगवान्ने शब्द प्रमाण तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमें अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है—

पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परम भवान्।
पुरुष शाश्वत दिव्यमादिदेवमज विभुम्॥
सर्वमेतदृत मन्ये यन्मा वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्ति विदुर्देवा न दानवा॥
स्वयमेवात्मनात्मान वेत्थ त्व पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

'आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और

सर्वव्यापी हैं, हे केशव ! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्‌के स्वामी, हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्‌की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ— '*द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्*' अर्जुन परम विश्वासी था, भगवान्‌के प्रभावको जानता और मानता था। इसीलिये भगवान्‌की परम दयासे उनके दिव्य विराट्‌रूपके दर्शन करना चाहता है, भक्तकी इच्छा पूर्ण करना भगवान्‌की बान है इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके उसे विश्वरूप दिखलाया। यह विश्वरूप श्रद्धासे ही दिखाया गया, श्रद्धा या विश्वास करवानेके हेतुसे नहीं। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा

है कि 'अनन्य भक्तके सिवा किसी दूसरेको यह रूप मैं नहीं दिखा सकता । मेरा यह स्वरूप वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपोंसे नहीं दीख सकता ।' इससे यह सिद्ध है कि अर्जुन परम श्रद्धालु, भगवत्परायण और महान् भक्त था । भगवान्‌ने अनन्यभक्तिका स्वरूप और फल यह बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ—यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, मनन, ध्यान और पठन पाठनका प्रेमसहित निष्काम भावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है ऐसा वह अनन्यभक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

(३) अर्जुनने 'निष्काम कर्मयोगसहित शरणागतिरूप भक्ति' को ही अपने लिये प्रधान उपदेश समझकर उसीका विशेष स्मरण रक्खा था ।

कथनानुसार इसीको 'सर्वगुह्यतम' माना था। ज्ञानके उपदेशको शरणागतिकी अपेक्षा गौण समझकर उसकी इतनी परवा नहीं की थी। इस प्रसंगमें भी अर्जुन उस 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिके लिये कुछ नहीं पूछता। यह तत्त्वज्ञान तो उसे स्मरण ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भी उससे कहा कि मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था (*श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्। महाभारत अश्व० १६। ९*) इस 'गुह्य' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है। उलहना देनेके बाद भगवान्‌ने अर्जुनको जो कुछ सुनाया, उसमें भी गीताकी भाँति निष्काम कर्मयोग और शरणागतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। केवल वही ज्ञानभाग सुनाया, जिसको कि अर्जुन भूल गया था।

(४) भगवान्‌के अपनेको असमर्थ बतलानेका यह अर्थ नहीं कि आप उस ज्ञानको पुनः सुना नहीं सकते थे या वे उसको भूल गये थे। सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के लिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। भगवान्‌के कहनेका अभिप्राय ज्ञानयोगका सम्मान बढ़ाना है। गुरु अपने शिष्यसे कहता है कि 'तुझको मैंने बड़ा ऊँचा उपदेश दिया था, उसे तूने याद नहीं रक्खा। आत्मज्ञानका उपदेश कोई बाजारू बात नहीं है जो जब चाहे तभी कह दी जाय' इस प्रकार यहाँ 'असमर्थता' का अर्थ यही है, मैं इतनी ऊँची बात इस तरह लापरवाही

गया था तथापि भगवान्‌का यह उलहना देना तो सार्थक ही था कि तुम मेरी कही हुई बातोंको क्यों भूल गये। शरणागतको अपने इष्टकी बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानका अधिकार ऊँची श्रेणीका है और निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागति भक्तिका नीची श्रेणीका। जब दोनोंका फल एक है तब इनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अर्जुन कर्मी और भक्त था, अत उसके लिये यही मार्ग उपयुक्त था।

(५) भगवान् सब सुना सकते थे, यह बात ऊपर के विवेचनसे सिद्ध है। भगवान् व्यास महान् योगी थे, उन्होंने योगबलसे सारी बातें जानकर सुना दी। जिनकी योगशक्तिसे सञ्जय दिव्यदृष्टि प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया, उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी?

(६) व्यासजीके कहनेका मतलब यह है कि उन्होंने कुछ तो संवाद ज्यों-के-त्यों रख दिये, कुछ संवादोंको संग्रह करके उन्हें सजा दिया। भगवान्‌ने अर्जुनको जो उपदेश दिया था उसमेंसे बहुत से श्लोक तो ज्यों-के-त्यों रख दिये गये, कुछ गद्यभागके पद्य बना दिये और कुछ इतिहास कहा। दुर्योधन, सञ्जय, अर्जुन और धृतराष्ट्र आदिकी दशाका वर्णन व्यासजीकी रचना है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि यह मनोकल्पित उपन्यासमात्र है। वास्तवमें व्यासजीने अपने योगबलसे सारी बातें जानकर ही सच्चा इतिहास लिखा है।

श्लोक-सूची

अध्याय	धृतराष्ट्र	संजय	अर्जुन	श्रीभगवान्	पूर्ण संख्या
१	१	२५	२१	०	४७
२	०	३	६	६३	७२
३	०	०	३	४०	४३
४	०	०	१	४१	४२
५	०	०	१	२८	२९
६	०	०	५	४२	४७
७	०	०	०	३०	३०
८	०	०	२	२६	२८
९	०	०	०	३४	३४
१०	०	०	७	३५	४२
११	०	८	३३	१४	५५
१२	०	०	१	१९	२०
१३	०	०	०	३४	३४
१४	०	०	१	२६	२७
१५	०	०	०	२०	२०
१६	०	०	०	२४	२४
१७	०	०	१	२७	२८
१८	०	५	२	७१	७८
जोड़	१	४१	८४	५७४	७००

छन्द-विवरण

छन्दका नाम	अध्याय	श्लोकोंका संख्या	कुल सं
इन्द्रवज्रा श्लोक १०	२	७, २९	२
	८	२८	१
	९	२०	१
	११	२०, २२, २७, ३०	४
	१५	५, १५	२
उपेन्द्रवज्रा श्लोक ४	११	१८, २८, २९, ४५	४
उपजाति श्लोक ३७	२	५, ६, ८, २०, २२, ७०	६
	८	९, १०, ११	३
	९	२१	१
	११	१५, १६, १७, १९, २१, २३, २४, २५, २६, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०	२४
	१५	२, ३, ४	३
विपरीतपूर्वा श्लोक ४	११	३५, ३७, ३९, ४४	४
अनुष्टुप् श्लोक ६४५		सम्पूर्ण १८ अध्यायोंमें	६ -
७००			७००

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर